पां डु लि पि

[देवेश ठाकुर के व्यक्तित्व-कृतित्व का मूल्यांकन]

सम्पादक :
डॉ० ब्रह्मदेव मिश्र
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय,
गोवा.

© संकल्प प्रकाशन, बम्बई

प्रथम संस्करण : जून, 1993

प्रकाशक :

संकल्प प्रकाशन

ए—34, बिल्वकुंज, लाल बहादुर शास्त्री मार्ग,
मुलुंड [पश्चिम], बम्बई—400082.

मुद्रक : देवलोक प्रेस, सूरज कुण्ड रोड, मेरठ।
फोन : 77231

मूल्य : 180 रुपये मात्र

'PANDULIPI' (CRITICISM) EDITED by Dr. Brahmadev Mishra.
Price : Rs. 180/-only

□ डॉ० ब्रह्मदेव मिश्र

22

त्रासद स्थितियों के बीच उभरी स्पष्ट दृष्टि की साहसिक कृति : 'जनगाथा'

सन् 1986 में प्रकाशित देवेश ठाकुर के नये उपन्यास 'जनगाथा' को इनका महत्वाकांक्षी प्रयास कहा जाय, तो यह गलत न होगा। क्योंकि इस उपन्यास से जनवादी प्रगतिशील सौन्दर्यशास्त्र को एक नया आयाम मिला है। अपने प्रथम उपन्यास 'भ्रम-भंग' से ही लेखक ने अपने अनुभुवों के बाहर न जाकर जिस प्रामाणिकता को रेखांकित करने को कौल ली थी, उसकी रक्षा 'जनगाथा' में भी हुई है। लेकिन यहाँ उनके अनुभवों का दायरा विस्तृत और सर्वसमावेशी हुआ है, तो उनकी आलोचनात्मक दृष्टि की प्रखरता तथा जड़ तक पहुँचने की चेष्टा भी परिपुष्ट हुई है। उपन्यास से गुजरते हुए हम जिन स्मृतियों, व्यक्ति-चित्रों तथा परिवेशगत स्थितियों का साक्षात्कार करते चलते हैं, वे हमारे अपने अनुभव का जीवन्त हिस्सा बनकर हमारी स्मृतियों को गहराई से कुरेदती हैं और महसूस हुए बिना नहीं रहता कि 'जनगाथा' हमारी अपनी गाथा भी है।

किन्तु उपन्यास से गुजरने से पहले उन सूत्रों को जानना जरूरी है जिनके सहारे उपन्यास की तह तक पहुँचने में मदद मिलती है। पहला सूत्र है—लेखक की आदि से अन्त तक मौजूदगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपन्यास का आरम्भ लेखक शिवनाथ अथवा देवेश ठाकुर की स्मृतिजन्य व्यथा-कथा से होता है और अन्त भी उसी की निराशाजन्य पीड़ा से। इन दोनों बिन्दुओं का फासला भी पीड़ाजनक प्रसंगों से भरा पड़ा है। सही है कि विविध पीड़ा प्रसंगों के अपने दायरे हैं, किन्तु सम्मिलित रूप से ये पीड़ा-प्रसंग एक विकट पीड़ा की संरचना करते हैं जिससे स्थायी भयावहता का एक सिलसिला बनता चलता है। यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इस पीड़ा-बोध की सृष्टि खयाली है। सच्चाई तो यह है कि लेखक का यह पीड़ा-बोध उसके भोगे हुये यथार्थ की रचनात्मक उपलब्धि है, जिसे उसकी सतर्क आलोचनात्मक दृष्टि ने सजोया है। दूसरा सूत्र है–लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता,

जिसके चलते वह खुद अपनी रचना-प्रक्रिया पर पुनर्वार विचार करते हुए आगे बढ़ता है। इसे ही हम उसकी आलोचनात्मक दृष्टि कह सकते हैं। ये दोनों ही सूत्र परस्पर अन्तर्ग्रन्थित एवं अभिन्न हैं और इन्होंने ही मिलकर एक जन की गाथा को बहुजन की गाथा अथवा 'जनगाथा' के रूप में बुन डाला है।

लेखक शिवनाथ की पहली चिन्ता है—शकुन को लिखना जो उसकी साली है और जिसकी मौत लेखक के ही घर पर पन्द्रह साल पहले कैंसर से हुई थी। इस पीड़ा-जनक मौत की गहरी खरोंच आज भी लेखक के स्मृति-पटल पर ज्यों कि त्यों मौजूद है। वह उससे तभी मुक्त हो सकता है, जब वह शकुन को लिख दे, जिसने लेखक से खुद के लिखने का आग्रह भी किया था। मुश्किल यह है कि शकुन को लिखने के लिये लेखक के अपने अनुभव ना काफी हैं और स्व-मुक्ति के लिये लिखना भी आवश्यक है। अतएव लेखन-सूत्रों को तलाशने तथा उन्हें रचनात्मक रूप देने के लिये लेखक को काफी जद्दोजहद करनी पड़ती है। इसका पर्याप्त संकेत उपन्यास में उन स्थलों पर मौजूद है जहाँ कथा को आगे बढ़ाने के लिये अपनी बालकनी में बैठे लेखक को बार-बार संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष के दरम्यान उसके स्मृति-पटल पर अंकित, बहुत सारे अनुभव तथा उन अनुभवों से जुड़े लोग तथा उनसे जुड़ी घटनायें कौंध-कौंध उठती हैं और उनका सयोजन भी उपन्यास में होता चलता है। सरसरी तौर पर देखने में यह इतना अनायास-सा लगता है कि पाठक उसमें बहता चला जाता है। पर क्या रचना-कर्म इतना अनायास होता है? निश्चित रूप से नहीं। इसका सबूत रचना-प्रक्रिया पर दी गई लेखकीय टिप्पणियों से मिलता है। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—"चलते-चलते कई बार रुक जाना पड़ता है। जैसे बीच रास्ते पर कोई पेड़ आ पड़ा हो। लिखते-लिखते भी बार-बार इसी प्रकार का अनुभव होता है।" (जनगाथा-पृ० 212) तात्पर्य यह कि रचना-प्रक्रिया को अनायास-सी दिखाने के लिये एक ईमानदार लेखक को बड़े पापड़ बेलने पड़ते हैं। और देवेश ने यह कष्ट उठाया है क्योंकि अपने अनुभवों को संयोजित करने वाली दृष्टि के प्रति वे ईमानदार हैं और उनका प्ररिप्रेक्ष्य स्पष्ट है। वे नितांत अकेलेपन की अकेली कथा नहीं लिख सकते क्योंकि उनकी पक्षधरता जनता के साथ है। पक्षधरता की इसी ईमानदार त्वरा के कारण उन्हें प्रखर रूप से आलोचनात्मक रुख अपनाना पड़ता है। धूमिल की तर्ज पर कहें तो आज जो भी ईमानदार हैं, वे विरोधी खेमे में जाने के लिये अभिशप्त हैं। इतर प्रसंगों की बात तो दीगर है, शकुन के निजी प्रसंगों में भी यह विरोधी मुद्रा उभरे बिना नहीं रहती। 'आदमी की मुक्ति को प्रशासन ने नहीं, उसकी अपनी खोखली परम्पराओं की जंजीरों ने जकड़ रखा है। लेकिन अब हद हो चुकी है। लोग इसे ज्यादा बर्दाश्त नहीं कर (पा) सकेंगे। जन-संघर्ष का तूफान उठेगा और ये जंजीरें मलबे का ढेर बनकर रह जायेंगी।' (वही-पृ० 66)।

लेखक उन सबका विरोधी है जो व्यवस्था की यथास्थिति के पोषक हैं।

चाहे वे व्यक्ति हों या जीवन-मूल्य के नाम पर स्थापित की गई रूढ़ियाँ। उसका स्पष्ट विश्वास है कि जब तक व्यवस्थागत यथास्थिति नहीं टूटेगी, सच्चा जनतन्त्र षडयन्त्र बनने के लिये मजबूर रहेगा। और यथास्थिति का यह षडयन्त्र भी लेखकों और तथाकथित बुद्धिजीवियों के लेखों और भाषणों की सुविधाभोगी राजनीति से नहीं टूटेगा। उसे तोड़ने के लिये क्रांतिकारी कदम उठाने की जरूरत है। लेखक के अनुसार यह कदम हो सकता है—"जो मारे उसको मारो। जो दुख दे उसको दुख दो। जो शोषण करे उसका सीधा विरोध करो।" (वही-पृ० 275) यानि सिर्फ इसी तरह क्रांति की दिशा प्रशस्त हो सकती है। क्या बताने की जरूरत है कि मौजूदा हालात को देखते हुये यह कदम निरर्थक नहीं कहा जा सकता। और न ही अतिरिक्त मानवीयता के नाम पर उन लोगों के बचाव के तर्क का समर्थन किया जा सकता है जो मानवता के रक्त-मांस पर ही जीवित रहकर अपनी जमात बढ़ाते जा रहे हैं। सिद्धांत रूप में इस दृष्टि-बोध की सार्थकता स्वीकार करते हुये भी सवाल उठता है कि इस दिशा में पहल कौन करे? क्योंकि खुद लेखक को अपनी सीमा में ही दुबककर रह जाना पड़ा है जहाँ उसका वजूद अंधेरी गुफा में प्रवेश करती एक लाश के मानिन्द है और जोशी की पहल एक निराशाजन्य गुस्से का संकेत देकर चुक जाती है। इन सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में पहल का यह सवाल उपन्यास के पाठक के समक्ष एक बड़ी समस्या बनकर खड़ा होता है और उसे सोचने को मजबूर करता है। हठात् उसका ध्यान उपन्यास के 'क्लाइमेक्स' पर टूटती ऊपर निर्दिष्ट पंक्तियों की ओर जाता है और वहीं ठहरकर रह जाता है। सही है कि उपन्यास का अन्त एक गहरे अवसाद की मानसिकता में होता है। व्यवस्थागत कुचक्रों के चलते न लेखक शकुन को बचा पाता है; न ही अपनी पारिवारिक लाचारियों के कारण अपने अन्तर्मन से ध्वनित व्यवस्था-भंजक कदम उठाने वाले जोशी के साथ चल पाता है। यह उसकी विवशता है जिसे वह गहराई से जानता है। इसीलिए एक लेखक के रूप में उसका योगदान एक गहरे-तीखे सोच को रेखांकित करते हुये अपनी विवशता को भी उभारना है। कारण, जोशी बनने के लिए जिस मानसिक मुक्ति की जरूरत होती है, वह घर-परिवार रहते उसे नहीं मिल पाती। प्रकारान्तर से जैसे वह कहता प्रतीत होता है कि लेखक का काम सिर्फ इतना ही है कि ईमानदारी के साथ अपने सोच को स्पष्ट परिदृश्य के साथ उजागर कर दे। ताकि पाठक सोचने पर मजबूर हों और मुक्तभाव से अपने संगठित कदम बढ़ाने के साहस उनमें संचरित हों। क्रांति व्यक्ति से नहीं जनता से होती है और जनता तभी पहल करेगी जब जोशी की तरह उसके भी सारे भ्रमभंग हो जायेंगे।

सावल फिर उठता है—जो भ्रम आज तक नहीं टूटे हैं क्या निकट भविष्य में उनके टूटने की सम्भावना दिखाई देती है? अपने परिवेश पर पूर्वग्रहमुक्त दृष्टि रखने वाले का उत्तर निश्चित ही नकार में होगा। यहीं एक नया सवाल आकार लेता है—जनता के भ्रम को तोड़ने के लिये किया भी क्या गया है? असलियत

तो यह है कि जनता के भ्रम को तोड़ने के जिम्मेदार राजनीतिज्ञ तथा बुद्धिजीवी भी व्यापारियों, दलालों, तस्करों तथा आतंकवादियों के साथ मिलकर यथास्थिति के पोषण में संलग्न हैं। जनता का भ्रमित रहना ही इनकी अपनी स्थिति के लिए लाभकारी है। व्यवस्था बदलने से जो उलट फेर होगा, उनकी भयावहता से वे सभी संत्रस्त हैं, जिन्हें दो जून की रोटी मयस्सर होती है। वे भी षडयन्त्रों के शिकार हैं जो अपने को क्रांतिधर्मा कहते नहीं थकते। बताने की जरूरत नहीं कि 'जनगाथा' में जनता को पीड़ित बनाकर रखने वाले उन सारे तत्त्वों की कलई खोली गई है और पूरे साहस के साथ खोली गई है। दरअसल ये तत्त्व देश के लिए नासूर बन गये हैं। उपन्यासकार के ही शब्दों में—'पूँजीपति, प्रशासन, पुलिस और पॉलिटिक्स। आज इनकी मिली-भगत से पूरा देश एक नए माफिया के गिरफ्त में आ गया है। लेखक भी इस माफिया में शामिल हो चुका है। सरकारी तन्त्र और पूँजीवादी प्रेसों के षडयंत्रों का शिकार आज का लेखक और पत्रकार शराब पीने और रमी खेलने में खो गया है। जो नहीं खोया है, उसे मिटा देने के लिए सभी सम्भव षडयन्त्र चालू कर दिये जाते हैं।' (वही पृ० 274–275) देश के वर्तमान परिवेश का तो यह एक उदाहरण यहाँ उद्धृत है। ऐसे अनेक उदाहरण उपन्यास में हैं जो लेखक की साफगोई तथा साहस के परिचायक हैं। इन्हें पढ़कर यदि लेखक का नाम भी किसी हिट-लिस्ट में आ जाये, तो आश्चर्य नहीं होगा। सोचने की बात है, जहाँ लेखक और बुद्धिजीवी जनता की पक्षधरता से बचने के लिए विवश हों, वहाँ जनता को प्रशिक्षित कौन करेगा ? ऐसी हालत में अंगद का पाँव बनी व्यवस्था को हटाने के लिए यदि शस्त्र और साहस की बात उभरती है, तो यह कतई अस्वाभाविक नहीं। बात दमदार है और सोचने को मजबूर करती है। यह बात और है कि इस पर सामूहिक रूप से अमल करना अभी निकट भविष्य में सम्भव नहीं दिखता। लेखक ने अपनी असमर्थता को न छिपाते हुए खुलकर अपना तर्क रखा है तो यह अकारण नहीं है। इसके पीछे उसकी अपेक्षा है कि जड़ता को तोड़ने की पहल लेखकों-बुद्धिजीवियों को सामूहिक रूप से करनी चाहिये और इसके लिये उन्हें साहस का परिचय देना चाहिए। लेखक का व्यवस्था-भंजक निष्कर्ष सांकेतिक है, जिसके पीछे मंतव्य यही है कि भय से मुक्ति मिले। लेकिन इस सच्चाई से भी वह नावाकिफ नहीं है कि उसके इस संकेत को अत्यन्त लाउड, कला के लिए हानिकर तथा नक्सलाइट कहकर उसके हमपेशा उसे खारिज कर देंगे और उस पर यह तोहमत भी चस्पा कर देंगे कि उस गुस्से के इजहार से क्या फायदा, जिसकी चरितार्थता खुद लेखक के लिये ही सम्भव न हो। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि अपनी ईमानदारी की खातिर जब धूमिल ने कहा था—'जिसकी पूँछ उठाई, सबको मादा पाया।' तो उन्हें भी बड़बोला कहा गया था। ध्यातव्य यह भी है कि कोई व्यवस्था जनता के हित में न जाकर उसके विरुद्ध जाती है, तो एक जनवादी लेखक को डटकर उसका विरोध करना पड़ता है और विरोध सर्वसमावेशी तभी हो सकता है, जब वह तनिक लाउड

और प्रखर हो। ठंडेपनवाला विरोध जो अपने चरित्र में ही 'अंडर करेंट' के माफिक होता है, जन-जागरण का औजार नहीं बन सकता।

देवेश जी की प्रशंसा करनी होगी कि उन्होने बौद्धिकता के उस ठंडेपन को तोड़ने की कोशिश की है जो पिछले दरवाजे से व्यवस्था के पक्ष में जाने का पर्याय बन गया था। उससे जड़ता टूटने के बजाय और जड़ीभूत हो रही थी। और यह सब इसीलिए सम्भव हुआ कि कला के प्रति गहरी रुझान के बावजूद देवेश जी उसे माध्यम भर मानते हैं। उनकी दृष्टि में महत्व कथ्य को सही ढंग से संप्रेषित करने का है, जहाँ कला कारगर होती है। उनकी पक्षधरता वामपंथ की ओर है और मानते हैं कि हमारे देश के लिए सबसे प्रासंगिक दर्शन मार्क्सवाद है। लेकिन वस्तुस्थिति का दुखद पहलू यह है कि सारी जलालतों के बावजूद इस देश में वह सफल नहीं हो सका। इसकी असफलता के लिए जिम्मेदार तत्वों को उन्हीं की जबानी बताना बेहतर होगा। "इसके लिये बहुत-सी बातें जिम्मेदार हैं। एक तो, इस देश में धर्म की जड़ें इतनी गहरी जमी हुई हैं कि जब तक उसकी फाँस से आम आदमी को मुक्त नहीं किया जाता, तब तक वह आर्थिक मुद्दों को अहमियत नहीं दे सकता। और जब तक कोई दर्शन उसके सामने भगवान का विकल्प लाकर खड़ा नहीं कर देता तब तक वह अपने विश्वासों से टस से मस नहीं हो (सकता) सकती।" (वही पृ० 170–171) अतएव लेखक की प्राथमिकता उस सोच को प्रभावकारी बनाकर प्रस्तुत करने की है, जिससे जनता भगवान का विकल्प प्राप्त कर सके जो बकौल लेखक आर्थिक मुक्ति दिलाने वाली व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। नयी व्यवस्था लाने के लिये पुरानी को खत्म करना होगा। और खत्म करने की प्रक्रिया ठंडेपन की कायल होकर चल नहीं सकती। उसे अपने मंतव्य को स्पष्ट करना होगा। वस्तुस्थिति के लिहाज से देवेश जी का मंतव्य एक सुविचारित सोच का स्पष्ट और स्वाभाविक उत्स है।

उपन्यास के व्यापक सामयिक परिवेश में व्यवस्था से जुड़े उन तमाम सवालों एवं समस्याओं को गहरी आलोचनात्मक दृष्टि से उठाया गया है, ताकि पाठक भली-भाँति समझ सके कि असलियत क्या है और स्थितियों की पृष्ठभूमि में उसे किस तरह छिपाकर रखने का प्रयास चल रहा है। कौन नहीं जानता कि साम्प्रदायिकता और आतंकवाद दो ऐसी समस्यायें हैं जिन्हें तब तक नहीं सुलझाया जा सकता जब तक उनका सही राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विश्लेषण करके उन कारणों को रेखांकित नहीं किया जाता जो समस्याओं के लिए उत्तरदायी हैं। क्या इस तरह प्रयास करना सम्भव नहीं? बखूबी सम्भव है, बशर्ते उसके लिये स्पष्ट एवं सही दृष्टि हो जिसके पीछे किसी प्रकार का दुराग्रह न हो। उपन्यासकार की पीड़ा यही है कि ऐसे प्रयास नहीं किए गए। जिन पर ऐसा करने की जिम्मेदारी थी वे सुविधा की राह गए और जा रहे हैं तथा निरीह आम आदमी मुँह बाये खड़ा उन्हें देख रहा है। आम आदमी की पक्षधरता ने लेखक को इतना कटु बना दिया

है कि उसने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त सुविधापरस्तों की चमड़ी उधेड़ कर रख दी है। उसकी दृष्टि के सामने जो भी आया है, उसका नग्न "एक्सरे" लेने से वह नहीं हिचका है। भय से यह मुक्ति उस सतत संघर्ष की उपलब्धि है, जिसे लेखक ने अपना जीवन-लक्ष्य बना लिया है। लेखक की कटुता को उसके 'निगेटिव एप्रोच' का प्रतिफल नहीं कहा जा सकता। यह कटुता उसी तरह पॉजिटिव और लाभकारी है जिस तरह कुनैन की गोली होती है। जब तक गोली को गले नहीं उतारेंगे, उसका लाभ नहीं जान सकते। उसी तरह लेखक के कटु प्रयत्न को हम तब तक सार्थक नहीं मान सकते जब तक हम उसे गले उतारने से डरते रहेंगे। 'जनगाथा' में परिवेश के विविध चित्रों के पीछे निहित रचनाकार के सोच की बेचैनी उन्हीं को स्पष्ट होगी जो परिवेशवाद की संकुचित अवधारणा से मुक्त होकर उसकी तलाश खुली दृष्टि से करेंगे।

उपन्यासकार के अनुभवों ने जिस तथ्य को उसके मानसिक पटल पर गहराई से टाँका है, वह है—स्वार्थ और सुविधा की राजनीति। साहित्य, प्रेस, विश्व-विद्यालय, अस्पताल, पार्टी, कॉलेज आदि सभी क्षेत्र राजनीति की इसी सुविधाभोगी भंगिमा के शिकार हुए हैं। अपने समर्थकों की भीड़ जुटाकर यथास्थिति को बरकरार रखने की राजनीति ने ही वामपंथ को निष्क्रिय तथा निष्प्रभावी बनाकर रख दिया है। अतः अपने इस पीड़ाजनक अनुभव को बेलाग व्यक्त करके लेखक ने अपनी सुविधा को खोने का जोखिम उठाया है और संघर्ष की निरन्तरता बनाए रखने के लिए विरोध में खड़ा होना स्वीकार किया है। जो लोग यह जोखिम नहीं उठा सकते वे नामवर सिंह तथा अज्ञेय की साहित्यिक राजनीति पर भी टिप्पणी नहीं कर सकते। प्रधानमन्त्री की नीतियों का मूल्यांकन भला वे क्या करेंगे ?

अब हमें उपन्यास की उस कथा का जायजा लेना चाहिए जिसको लिखने के बहाने परिवेश-कथा का अंकन होता गया है। वह कथा शकुन की है जिसे लिखना लेखक की विवशता है। वह चाहता तो शकुन की अकेली कथा भी लिख सकता था। यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं कि शकुन के बारे में जितना कुछ उपन्यास में है, अलग से प्रस्तुत किए जाने पर भी वह पाठक का ध्यान आकृष्ट किये बिना न रहता। शकुन को लिखने में लेखक ने अपनी गहरी संवेदना का जैसा सटीक और सुन्दर उपयोग किया है, उससे पाठक की संवेदना निस्संदेह आन्दोलित होती है। शकुन का एकाकीपन आरम्भ से अन्त तक जिस द्वन्द्वात्मक लहजे में उभारा गया है, उससे लेखक की मनोविश्लेषक शक्ति का खासा परिचय मिलता है। शकुन से जुड़े सन्दर्भों का संयोजन इस कलात्मकता से किया गया है कि उसकी मनोव्यथा का रंग उसी प्रकार कौंध उठता है जिस प्रकार उपयुक्त सेटिंग के बीच कोई चित्र कौंध उठता है। किन्तु लेखक को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ, तो क्यों ? इस 'क्यों' का उत्तर उपन्यास में ही अंकित इन पंक्तियों के सहारे दिया जाना उपयुक्त

होगा जो शकुन की कथा के सन्दर्भ में जोशी की तीखी टिप्पणी के रूप में संयोजित हैं। "एक इन्सान कैंसर से मर गया। तुमने उस पर एक उपन्यास लिख दिया। यहाँ पूरे समाज को कैंसर खा रहा है, तो तुम्हारे कान पर जूँ नहीं रेंग रही।' (वही पृ० 303) क्या यह टिप्पणी लेखक को झकझोर कर रख देने वाली नहीं है ? और इसका संकेत भी उपन्यास में मौजूद है। उसे देखना भी अनुचित न होगा। 'जोशी की उस दिन की बात ने मुझे झकझोर दिया है। एक अपनी बहिन कैंसर से मर गई तो मैंने उस पर उपन्यास लिख दिया। और इधर पूरे समाज में कैंसर फैला हुआ है, लेकिन मैं उसकी तरफ से आँखें मूँदे हूँ। एक लेखक—प्रगतिशील लेखक होने के बावजूद।' (वही पृ० 303) क्या अब भी यह बताने की आवश्यकता है कि प्रगतिशील लेखक होने के नाते देवेश ठाकुर केवल शकुन की व्यक्ति-कथा लिखकर 'तथाकथित' हो जाते और इन्हें यह गवारा नहीं। अतः शकुन के साथ उन्होंने परिवेश को भी लिखा और अपनी प्रगतिशीलता को बरकरार रखा। भले ही इस कारण शकुन की कथा का अन्त सन्तोषप्रद होने से रह गया।

सवाल उठता है कि शकुन की संवेदनात्मक कथा को परिवेश की विचारोत्तेजक कथा के साथ जोड़ने की संगति क्या है ? उपन्यास के माध्यम से जिस कथ्य को रेखांकित करने की कोशिश की गई है, उसको अधिक प्रभावोत्पादक बनाने में क्या शकुन की कथा से सहायता मिलती है ? क्या यह नहीं कहा जा सकता कि बेमेल कथाओं को संयोजित कर लेखक ने अपनी कला-क्षमता का परिचय भले ही दिया हो, इससे उसके प्रगतिशील चरित्र में तनिक भी इजाफा नहीं होता ? ये ऐसे सवाल हैं जो उठाए जा सकते हैं और जिनका उत्तर देना बहुत आसान नहीं होगा। 'जनगाथा' पढ़कर ऐसा भी नहीं लगता कि कला के प्रति लेखक बहुत सजग नहीं है। ऐसा उत्तर जो उपन्यास के संरचना-सरोकार से बाहर जाकर दिया जाएगा, बहुत दूर की कौड़ी लाने के समान होगा। फिर भी कथाओं की परस्पर संगति उठायी जा सकती है और वह भी उपन्यास के बाहर जाकर नहीं। जहाँ तक उपन्यास के सबब का सवाल है, ऊपर उद्धृत जोशी की टिप्पणी और उससे उपजी लेखकीय प्रतिक्रिया के सन्दर्भ इस दिशा में यथेष्ट संकेत दे देते हैं। आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि एक जन की पीड़ा के अनुभव को बहुजन की पीड़ा के अनुभव से जोड़ा गया है और इस जुड़ाव का ही प्रतिफलन है 'जनगाथा'। लेखक की खुद की कथा भी इसमें शमिल हुई है रचनागत संघर्ष तथा प्रक्रिया के रूप में। लेखक की इस मौजूदगी ने ही परिवेश के विविध सन्दर्भों को परस्पर जोड़कर एक बिन्दु-कथा को सागर-कथा का स्वरूप दिया है। कहा जा सकता है कि परिवेश ही वह 'कॉमन फैक्टर' है जो एक को बहुत-से जोड़ता है। इसी परिवेश की शिकार शकुन है तथा मानुषी, सलमा, जोशी शिवनाथ आदि सब भी। आम आदमी भी परिवेश के क्रूर हाथों से नहीं बच पाता। परिवेश की इस क्रूरता के संदर्भ में ही औपन्यासिक कथ्य अपनी सार्थक संगति प्रमाणित करता है।

इस परिवेश का नियामक तत्त्व है व्यवस्था, जो अजगर की तरह कथा-स्थिति पर कुण्डली मारे बैठी हुई है। जब तक यह व्यवस्था कायम रहेगी, तब तक न शकुन कैंसर-मुक्त हो सकती है, न ही समाज। संयोजन का यह बिन्दु सूक्ष्म तथा संवेदनात्मक धरातल का है, पर इसे नकारा नहीं जा सकता। शकुन का परिवेश इस तरह का नहीं बन पाया कि वह अपने अकेलेपन के घेरे से बाहर निकलकर अपना जीवन जी पाती, जिसके लिये अपार जिजीविषा उसमें थी। यदि वह अपने मन को खोलकर रख पाती तो खुद से लड़कर खुद को ही तोड़ने से बच जाती। शकुन के समग्र-चरित्र का यह पक्ष स्पष्ट है, किन्तु उसकी संघर्षशीलता पर एक लम्बे प्रश्न-चिन्ह की तरह लटका हुआ। लेखक चाहता तो शकुन जैसी पढ़ी-लिखी लड़की को सहज विश्वसनीयता से संघर्ष में सफल दिखा सकता था। किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। आखिर क्यों? इसका तर्क-संगत उत्तर भी उपन्यास में ही मौजूद है। प्रगतिशील होने के नाते लेखक की व्यक्ति-विषयक धारणा भी अन्य प्रगतिशीलों की तरह ही है। वह व्यक्ति की सफलता को व्यवस्था-बदलाव के सन्दर्भ में नाकाफी मानता है। भावनात्मक धरातल पर भले ही व्यक्ति की सफलता को विश्वसनीय बनाया जाय, वस्तु-यथार्थ के सन्दर्भ में वह सम्भव नहीं दीखता। साथ ही जिस व्यवस्था को तोड़ना उसका लक्ष्य है, वह व्यक्ति से नहीं समूह से टूटती है; यह प्रगतिशील सिद्धान्त भी उसके लेखन-कर्म का नियामक है। सामूहिक प्रयास के अभाव में ही दमघोंटू व्यवस्था जड़ीभूत बनी कायम है। सामूहिकता के प्रयास असफल साबित हो रहे हैं क्योंकि उसके विरोधी प्रयत्न कारगर हो रहे हैं। सामूहिकता की दीवार में निरन्तर छेद करने वाले तत्त्वों को पहचान कर जब तक उन्हें नेस्तनाबूद नहीं किया जाता, तब तक बदलाव आने से रहा। स्थिति का दुखद पक्ष यही है कि प्रगतिशील शक्तियों का ध्रुवीकरण न होने के कारण लोगों की निगाह व्यक्तियों की ओर उठती है. जिनकी अपनी सीमा होती है, चाहे वह शकुन हो या जोशी या खुद लेखक शिवनाथ। 'जनगाथा' का निराशाजनक अंत हमें बार-बार झकझोरता है और सचेत करता है कि व्यक्तियों पर आशा टिकाए रखने के बजाय इस जन-समूह पर ध्यान दें, उसे सचेत और सक्रिय करें। परिवर्तन-हेतु यही पहल प्रासंगिक है, वरना निराशा के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगेगा। हमें व्यवस्था के हर उस आयाम को बदलना है, जिसमें शकुन को कैंसर होता है, जोशी विक्षिप्त बनता है, सलमा शरीर बेचने पर मजबूर होती है, नवीन आत्महत्या करता है तथा शिवनाथ मृतप्राय होकर अंधेरी गुफा में प्रवेश करता है। उपन्यास में व्याप्त सारी त्रासदी का कारण केवल एक ही है कि अप्रासंगिक व्यवस्था के कायम रहते व्यक्ति के सामुदायिक विकास का स्वस्थ परिवेश निर्मित नहीं हो पाता और वह त्रासद जीवन होने के लिए अभिशप्त होता है। लेखक ने अपने पात्रों को उसी रूप में प्रस्तुत किया जिस रूप में वे उसे यथार्थ-जीवन में मिले हैं। यथार्थ अनुभव की त्रासदी ने ही उसे कथ्य की स्पष्टता दी है, जिसके बिना व्यवस्था का इन्द्रजाल टूटता नहीं दीखता।

चूंकि 'जनगाथा' के लेखक ने खुद को कथानक से कहीं अलग नहीं रखा है, इसलिये अपने से जुड़ी बातों तथा घटनाओं को उपन्यास में शामिल करने की पूरी सहुलियत उसे अनायास ही मिल गयी है, जिसका बखूबी लाभ उसने उठाया है। लेकिन शुभांगी के प्रकरण को लेकर यह प्रश्न उठाना असंगत न होगा कि उसके संयोजन से औपन्यासिक चरित्र में क्या इजाफा हुआ ? क्या उसके बिना उपन्यास के कथ्य एवं संरचना में कोई फर्क आने वाला था ? सरसरी तौर पर देखने से तो इस प्रसंग का जुड़ाव अन्य घरेलू तथा परिवेशगत प्रसंगों की तरह अनायास आया हुआ लगता है। उपन्यास की रचना-प्रक्रिया में संलग्न लेखक के मानसिक पटल पर उसका स्मृति-चित्र कौंध उठा और उसे प्रस्तुत कर उसने एक और नारी-चरित्र का इजाफा 'जनगाथा' के विविध नारी-चरित्रों के प्रसंग में कर दिया। किन्तु जब हम उसके साथ लेखक के भावात्मक लगाव पर गौर करते हैं, तो यह भी महसूस होता है कि इस प्रसंग को सप्रयोजन जोड़ा गया है। अखिर वह प्रयोजन भी स्पष्ट होता है जब लेखक शुभांगी के समर्पण को पारिवारिक कर्त्तव्य पर हावी नहीं होने देता और उसके प्रति अपनी समस्त कोमल भावना को नियन्त्रित करने में सफल होता है। प्रसंग की रचनागत बुनावट से यदि यह आभास मिलता है कि लेखक ने इसके माध्यम से खुद को चरित्र-प्रमाणपत्र दिया है, तो इसे गलत नहीं कहा जा सकता। शुभांगी जिस कोटि की नारी है, उसका लाभ लेने वाले महापुरुषों की इस देश में कमी नहीं, बल्कि इस प्रकार के मधुर सम्बन्ध बुद्धिजीवियों के प्रेरणा-स्रोत होते हैं। लेखक पर भी उसका जादू चल ही गया था कि कर्त्तव्यनिष्ठ-संघर्षशील लेखक ने उसे तोड़ डाला और काजल की कोठरी से बेदाग बाहर निकल आया। निश्चय ही चारित्रिक पतन के खतरों में पड़कर उससे बाहर निकलना, मामूली प्रसंग नहीं और लेखक की अपनी कथा के साथ उसकी संगति भी बैठती है। परन्तु लेखक की निजी जिन्दगी से जुड़ा होने के कारण यह प्रसंग जितना लेखक को फोकस करता है, उतना शुभांगी के संघर्ष को नहीं। मेरी राय में इसके व्यामोह से बचा जाता तो बेहतर था। उससे उपन्यास को कोई क्षति न पहुँचती। प्रगतिशील लेखक को प्रमाण-पत्रों की जरूरत भी नहीं होती।

'जनगाथा' में जिस जिजीविषा को लिखकर लेखक ने अपनी दृष्टि साफ करनी चाही है, कमोबेश हर प्रगतिशील और उद्देश्यपरक लेखक के लिए उसको लिखना लाजिमी होता है। अतएव उपन्यास के कथ्य में अगर कोई नवीनता है तो वह उसकी कथन-भंगिमा में है, जिसके तहत उपन्यासकार ने जो साहस दिखाया है, वह विशेष अहमियत रखता है। इस सन्दर्भ में पीछे विस्तार से चर्चा की जा चुकी है, अतः उसका पुनरावर्तन यहाँ अप्रासंगिक होगा। 'जनगाथा' जैसी कृति से किसी नूतन एवं अभिनव कथ्य की अपेक्षा भी बेमानी है। नवीनता यदि इस कृति में कहीं है, तो वह उसकी संरचना-शैली में है जिसका इजहार खुद लेखक ने 'अपनी ओर से' में किया है। शैली की दृष्टि से उपन्यास में कितनी नवीनता है, इसे जानने

के लिये तो तुलनात्मक शोध अपेक्षित है जो इस निबन्ध की सीमा से परे की चीज है। किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि लेखक ने अपने पिछले उपन्यासों के शिल्प को वहाँ दोहराया नहीं है। जैसा आरम्भ में ही कहा जा चुका है—इस उपन्यास में देवेश जी ने प्रगतिशील सौंदर्यशास्त्र को एक नया आयाम देने का महत्वाकांक्षी प्रयास किया है, जो गौरतलब है। इसके लिए उपन्यास के संरचना-विधान का जायजा लेना जरूरी होगा।

'जनगाथा' की रचना-प्रक्रिया का आधार निर्मित करते हैं लेखक के स्मृति-पटल पर अंकित वे गहरे अनुभव, जिन्हें सोद्देश्य दृष्टि के तहत संयोजित किया गया है। रचना की इस प्रक्रिया में गहरे चिन्तन का सूत्र आद्यांत कायम रहता है और इन क्षणों में जहाँ लेखकीय मानसिकता के अतिशय संवेदनात्मक होकर फिसल जाने का खतरा रहता है, यह चिन्तन-सूत्र उसको फिसलने से बचाने में सहायक होता है। संवेदना और विचार का बराबर बना रहने वाला यह द्वन्द्व इस उपन्यास के संरचना-विधान की वह आंतरिक लय है, जो पाठक को बराबर सुनाई पड़ती है। इसी के चलते एक से अधिक कथाओं की परस्सर बुनावट बेमेल नहीं हो पाती तथा विविध प्रकार के पात्रों का संयोजन अपनी सार्थकता एवं औचित्य प्रमाणित करता है। साथ ही विविध प्रकार की अभिव्यक्ति-शैलियाँ भी अपने उपयोग की प्रासंगिकता प्रमाणित करने में सफल होती हैं।

पात्र-योजना को देखें तो पाते हैं कि इतने अधिक पात्रों को लेकर उपन्यास में उनकी भूमिका का सफल निर्वाह करना दुस्तर कार्य था, किन्तु 'जनगाथा' के लेखक ने इस दुस्तर कार्य को अंजाम देने में सफलता पायी है। पात्र-योजना की सफलता इस बात में होती है कि हर पात्र चरित्र बनकर कथा में अपनी उपस्थिति की चरितार्थता प्रमाणित करे तथा उससे समग्र कथा को कोई व्याघात न पहुँचे। 'जनगाथा' में जहाँ एक ओर अपनी जिजीविषा से प्रभावित करने वाले चरित्र—शकुन, जोशी, सलमा, मोहिन्दर, मिसेज पुरी, मानुषी, शंकर भाई आदि हैं, वहीं ऐसे सूच्य चरित्रों को भी बड़ी कलात्मकता से नियोजित किया गया है, जो अपनी उपस्थिति का एहसास कराते हुए जिजीविषा-संघर्ष को गति प्रदान करते हैं। कॉलेज के अध्यापक, अस्पताल के कर्मचारी, साहित्य के पुरोधा राजनीति के कर्णधार आदि की सूचनात्मक उपस्थिति को इसी रूप में देखा जाना चाहिये। चरित्रों से जहाँ कथा-सूत्र को अग्रसर करने तथा अपनी दृष्टि से स्पष्ट करने में सहायता ली गई है, वहीं उनके परिवेशगत वैभिन्य को दिखलाना भी महत्वपूर्ण है। परिवेश के विस्तृत कैनवास पर पात्रों के विविध रूप अपनी भूमिका की सार्थकता प्रमाणित करते हैं तो महज इसलिए कि स्वयं परिवेश ही एक पात्र के रूप में उन्हीं से आकार पाता है। विस्तार-भय से यहाँ केवल दो चरित्रों का संक्षेप में जायजा लिया जा सकता है। एक है लेखक का पत्रकार मित्र जोशी और दूसरे हैं शंकर भाई। पत्रकार होने के

कारण जोशी उन बातों को बेलाग कहने की सामर्थ्य रखता है, जो प्राध्यापक होने के नाते लेखक की सामर्थ्य के बाहर की चीज है। इस प्रकार जोशी प्रकारान्तर से लेखक के सम्पूरक की भूमिका निभाता है और निरन्तर उसकी रचनात्मक ऊर्जा को अपनी तीखी टिप्पणियों से उत्प्रेरित करता रहता है। शंकर भाई प्रतिबद्ध पार्टी-कार्यकर्त्ता हैं और पार्टी सिद्धान्त को व्यावहारिक सार्थकता देने का उनका ज्ञान लेखक की दृष्टि को साफ करने में बड़ी मदद करता है। इन पात्रों की उपस्थिति के अभाव में परिवेश-कथा सम्भवतः वह आकार न ले पाती जो उसने 'जनगाथा' में लिया है। इसी तरह कथाओं के समंजन में भी इन चरित्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जहाँ तक 'जनगाथा' की अभिव्यक्ति-शैली का सवाल है, अभिव्यक्ति को विभिन्न शैलियों का सार्थक समंजन करके एक संरचना प्रस्तुत की गई है। यह सब चिन्तनात्मक लय के अनुरूप ही हुआ है। चूँकि 'जनगाथा' की रचना-प्रक्रिया के दरम्यान लेखक की मानसिकता को विविध मोड़ों, कोणों एवं आयामों से गुजरना पड़ा है, इसलिए प्रसंगानुरूप शैलियाँ आती गई हैं। 'जनगाथा' में तकरीबन उन सभी शैलियों का समुचित उपयोग हुआ है, जो कथा के विशेष सन्दर्भों, को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने की दिशा में सफल मानी जाती हैं। 'जनगाथा' का कोई पाठक आसानी से कथन, वर्णन, भाषण, वार्तालाप, पत्र, डायरी, चित्र, चेतन-प्रवाह, पूर्वदीप्ति, फंतासी, व्यंग्य, बिम्ब आदि शैलियों के प्रासंगिक इस्तेमाल को रेखांकित कर सकता है। शैली के प्रति देवेश जी की जागरूकता कथा को इस रूप में उभारती है कि हम उसके विशिष्ट सन्दर्भों का विशिष्ट प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उसके संघर्ष-सूत्र से बंधे रहते हैं और अन्त में त्रासदी के उस मुकाम पर पहुँचते हैं, जहाँ हमारी दृष्टि भी स्पष्टतर होने लगती है तथा प्रगतिशील चिन्तन का एक सिलसिला शुरू हो जाता है। उपन्यास में सागर का बिम्बात्मक प्रयोग कई बार हुआ है, लेकिन हर बार बालकनी में बैठे रचना-लीन लेखक की मानसिकता के बदलाव को उजागर करने की दृष्टि से एक टटकापन उसमें झलकता है। अनुभव में संवेदना का पुट निरन्तर बना रहने के कारण वर्णनों एवं दृष्यांकनों में भी एक जीवन्तता मिलती है। मिसाल के तौर पर गणेशोत्सव जूलूस तथा झुग्गी झोपड़ियों के गतिशील अंकन को देखा जा सकता है।

विभिन्न-संरचना शैलियों का समुचित उपयोग इसलिये सम्भव हुआ है कि उपन्यासकार के पास प्रचुर भाषा-सम्पत्ति है और उसकी संरचना-प्रणाली अथवा व्याकरण पर उसका खासा अधिकार है। उसके शब्द-भण्डार में सहज प्रयुक्त होने वाले बोल-चाल की शब्दावली प्रचुर संख्या में है जिसमें उर्दू-अंग्रेजी आदि भाषाओं के प्रचलित शब्द अनायास ही समाविष्ट हो गये हैं। शब्द-प्रयोग में ध्वन्यात्मकता के कलात्मक उपयोग पर भी उसकी नजर रही है, तभी तो 'पूँजीपति, प्रशासन, पुलिस और पॉलिटिक्स' जैसी शब्दावली 'जनगाथा' में सहज ही प्रयुक्त हुई है।

दरअसल 'जनगाथा' की गुणवत्ता उसकी पठनीयता में है। एक बार पाठ आरम्भ करके शायद ही कोई इसे बीच में छोड़ने को तैयार होगा। औपन्यासिक विधा के व्यापक विकास के लिये पठनीयता को आवश्यक मानकर ही लेखक ने इसका जिक्र उपन्यास में आई रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित टिप्पणियों के दौरान किया है।

अन्त में यह कि 'जनगाथा' के रूप में देवेश ठाकुर ने एक सुन्दर पठनीय कृति हिन्दी साहित्य को दी है। कृति में जनता की हिस्सेदारी की कमी जिनको खटकेगी, उन्हें भी पाठ-प्रक्रिया के दौरान यह एहसास अवश्य होगा कि जन-हिस्सेदारी के अभाव की त्रासदी को रेखांकित करने के लिये ही इसे रचा गया है, जिसमें जन-पक्षधरता की स्पष्ट दृष्टि के साथ जिजीविषा-सघर्ष की उत्प्रेरणा भी अनुस्यूत है। कह सकते हैं कि 'जनगाथा' त्रासद स्थितियों के बीच उभरी लेखक की स्पष्ट दृष्टि की साहसिक कृति है।